५

जीने की कला : कर्म में अकर्म

जीवन एक यात्रा है। यात्रा वह होती है, जिसमें लक्ष्य की प्राप्ति होने तक चरण कभी अवरुद्ध नहीं होते, गति कभी बन्द नहीं होती। मनुष्य के जीवन में यह यात्रा निरन्तर चलती रही है, कर्म की यह गति कभी भी अवरुद्ध नहीं हुई है, इसीलिए तो यह यात्रा है।

दुर्भाग्य ही कहिए कि भारतवर्ष में कुछ ऐसे दार्शनिक धर्माचार्य पैदा हुए हैं, जिन्होंने इस यात्रा को अवरुद्ध करने का, अंधकारमय बनाने का सिद्धान्त स्थापित किया है। उन्होंने कहा—निष्कर्म रहो, कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं, जो भगवान् ने रच रखा है, वह अपने आप प्राप्त होता जाएगा—

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥"

ऐसे कथनों को जीवन सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया। 'कुछ करो मत, अजगर की तरह पड़े रहो, राम देने वाला है।'

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे विचारों से क्या यथार्थ समाधान मिला भी है कभी? जीवन में क्या शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ है? सर्व साधारण जन और इन सिद्धान्तों के उपदेष्टा स्वयं भी, क्या सर्वथा निष्कर्म रह कर जीवन की यात्रा पार कर सके? सबका उत्तर होगा—'नहीं'। तब तो इसका सीधा अर्थ है कि निष्कर्म रहने की वृत्ति सही नहीं है, मनुष्य निष्कर्म रह कर जी नहीं सकता।

सर्वनाशी-कषाय :

मनुष्य परिवार एवं समाज के बीच रहता है, अतः वहाँ की जिम्मेदारियों से वह मुँह नहीं मोड़ सकता। आप यदि सोचें—परिवार के लिए कितना पाप करना पड़ता है, यह बन्धन है, भागो इससे, इसे छोड़ो!—तो क्या काम चल सकता है? और छोड़कर भाग भी चलो, तो कहाँ? वनों और जंगलों में भागने वाला क्या निष्कर्म रह सकता है? पर्वतों की तमस्-गुहाओं में समाधि लेकर क्या बन्धन से सर्वथा मुक्त हुआ जा सकता है? सोचिए, ऐसा कौन-सा स्थान है, कौन-सा साधन है, जहाँ आप निष्कर्म रह कर जी सकते हैं। वस्तुतः निष्कर्म अर्थात् क्रियाशून्यता जीवन का समाधान नहीं है, अपितु जीवन से पलायन है।

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर समाधान दिया है—निष्कर्म रहना जीवन का धर्म नहीं है। जीवन है, तो कुछ-न-कुछ कर्म भी है। केवल कर्म भी जीवन का श्रेय नहीं, किन्तु कर्म करके अकर्म रहना, कर्म करके कर्म की भावना से अलिप्त रहना—यह जीवन का सम्यक् मार्ग है। बाहर में कर्म, भीतर में अकर्म—यह जीवन की कला है।

मैंने कहा—कोई भी मनुष्य निष्कर्म नहीं रह सकता। कर्म तो जीवन में क्षण-क्षण होता रहता है, श्रीमद् भगवद् गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण की वाणी है—

"न हि कश्चित् क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्!"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल प्रश्न कर्म का नहीं, कर्म के बन्धन का है। क्या हर कर्म, बन्धन का हेतु होता है ? उत्तर है—नहीं होता।

बात यह है कि आप जब कर्म में लिप्त होने लगते हैं, आसक्त होते है, तो मोह पैदा होता है, तब कर्म के साथ बन्धन भी आ जाता है। जीवन में अच्छे-बुरे जो भी कर्म हैं, उनके-साथ मोह—राग और क्षोभ—द्वेष का सम्पर्क होने से वे सब बन्धन के कारण बन जाते हैं।

मैं जब प्रवचन करता हूँ, तो वह निर्जरा का कार्य है, पर उससे कर्म भी बाँध सकता हूँ। आलोचना और प्रशंसा सुन कर यदि राग-द्वेष के विकल्प में उलझ जाता हूँ, तो जो प्रवचन-रूप कर्म करके भी अकर्म करने का धर्म था, वह कर्म बन्ध का कारण बन गया। कर्म के साथ जहाँ भी मोह का स्पर्श होता है, वहीं बन्ध होता है।

तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था—न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन है। किन्तु, जो वहाँ दोनों के प्रत्यय से (निमित्त से) छन्द—राग अर्थात् स्नेह-भाव अथवा द्वेष-बुद्धि जागृत होती है, वही बन्धन है।[1]

भारतीय चिन्तन की यह वही प्रतिध्वनि है, जो उस समय के युग-चिन्तन में मुखरित हो रही थी। कर्म-अकर्म का विवेचन-विश्लेषण जब किया जा रहा था, तब भगवान् महावीर ने स्पष्ट उद्घोषित किया था।[2]

यह सम्भव नहीं है और शक्य भी नहीं कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों में शब्दादि विषय यथाप्रसंग अनुभूत होते ही हैं। अतः उनका त्याग यथाप्रसंग हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। किन्तु, उनके प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग अवश्य करने जैसा है। कर्मबन्ध वस्तु में नहीं, वृत्ति में होता है। अतः रागात्मक वृत्ति का त्याग ही कर्मबन्ध से मुक्त रहने का उपाय है, यही कर्म में अकर्म रहने की कला है। गीता की भाषा में इसे ही 'निष्काम कर्म' कहा गया है। समग्र भारतीय चिन्तन ने अगर जीवन का कोई दर्शन, जीवन की कोई कला, जीवन की कोई दृष्टि दी है, तो वह यह कि—निष्कर्म मत रहो, कर्म करो, किन्तु निष्काम रहो, कर्मफल की आसक्ति से मुक्त रहो।

अकर्म में कर्म :

हमारा जीवन-दर्शन जीवन और जगत् के सभी पहलुओं को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है। प्रत्येक पहलू का यहाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

जिस प्रकार 'कर्म में अकर्म' रहने की स्थिति पर हमने विचार किया है, कुछ उसी प्रकार 'अकर्म में कर्म' की स्थिति भी जीवन में बनती है, इस पहलू पर भी हमारे आचार्यों ने अपना बड़ा सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है, वे बहुत गहराई तक गए हैं।

अकर्म में कर्म की स्थिति जीवन में तब आती है, जब आप बाहर में बिलकुल चुपचाप निष्क्रिय पड़े रहते हैं, न कोई हलचल, न कोई प्रयत्न ! किन्तु मन के भीतर अन्तर्जगत् में राग-द्वेष की तीव्र वृत्तियाँ मचलती-उछलती रहती हैं। बाहर में कोई कर्म दिखाई नहीं देता, पर आपका मन कर्मों का तीव्र बन्धन करता चला जाता है। यह 'अकर्म' में भी 'कर्म' की स्थिति है।

'अकर्म में कर्म' को स्पष्ट करने वाले दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारे साहित्य में, दर्शन-

---

१. न चक्खु रूपानं संयोजनं,
न रूपा चक्खुस्स संयोजनं
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति
छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं। —संयुक्तनिकाय ४।३५।२३२

न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥ —आचारांग, २।३।१५।१३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र में अत्यधिक प्रसिद्ध है। एक उदाहरण है—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का और दूसरा है—तन्दुल मत्स्य का।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर में ध्यान मुद्रा में स्थित निष्कर्म खड़े हैं, किन्तु मन के भीतर भयंकर कोलाहल मचा हुआ है, रणक्षेत्र बना हुआ है। मन घमासान युद्ध में संलग्न है और तब भगवान् महावीर के शब्दों में वह सातवीं नरक तक के कर्म दलिक बाँध लेता है।

तन्दुल मत्स्य का उदाहरण इससे भी ज्यादा बारीकी में ले जाता है। एक छोटा-सा मत्स्य! नन्हे चावल के दाने जितना शरीर! और आयुष्य कितना? सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त भर का! इस लघुतम देह और अल्पतम जीवन-काल में वह अकर्म में कर्म इतना भयंकर कर लेता है कि मर कर सातवीं नरक में जाता है।

कहा जाता है कि तन्दुल मत्स्य जब विशालकाय मगरमच्छ के मुँह में आती-जाती मछलियों को देखता है, तो सोचता है—कैसा है यह आलसी! इतनी छोटी-बड़ी मछलियाँ इसके मुँह में आ-जा रही हैं, लेकिन यह अपना जबड़ा बन्द क्यों नहीं करता, इन्हें निगल क्यों नहीं जाता। यदि मैं महाकाय होता, तो बस एक बार ही सबको निगल जाता। भीतर-ही-भीतर उनका कलेवा कर डालता।

ये उदाहरण सिर्फ आमतौर पर व्याख्यान में सुनाकर मन बहलाने के लिए नहीं है, इनमें बहुत सूक्ष्म चिन्तन छिपा है, जीवन की एक बहुत गहरी गुत्थी को सुलझाने का मर्म छिपा है इनमें।

मनसा पाप :

हम बोलचाल की भाषा में जिसे मनसा पाप कहते है, वह क्या है? वह यही तो स्थिति है कि मनुष्य बाहर में तो बड़ा शान्त, भद्र और निःस्पृह दिखाई दे, किन्तु भीतर-ही-भीतर क्रोध, ईर्ष्या और लोभ के विकल्प उनके हृदय को मथते रहें, क्षुब्ध महासागर की तरह मन तरंगाकुल हो, किन्तु तन बिलकुल शान्त!

आज के जन-जीवन में यह सबसे बड़ी समस्या है कि मनुष्य दुरंगा, दुहरे व्यक्तित्व वाला बन रहा है। वह बाहर में उतने पाप नहीं कर रहा है, जितने भीतर में कर रहा है। तन को वह कुछ पवित्र अर्थात् संयत रखता है, कुछ सामाजिक व राष्ट्रिय मर्यादाओं के कारण, कुछ अपने स्वार्थों के कारण भी! पर मन को कौन देखे? मन के विकल्प उसे रात-दिन मथते रहते हैं, बेचैन बनाए रखते हैं, हिंसा और द्वेष के दुर्भाव भीतर-ही-भीतर जलाते रहते हैं। इस मनसा पाप के दुष्परिणामों का निदर्शन आचार्यों ने उपर्युक्त उदाहरणों से किया है। और, यह स्पष्ट किया है कि यह 'अकर्म में कर्म' की स्थिति बहुत भयानक, दुःखप्रद और खतरनाक है।

कर्म में अकर्म :

बाहर में कर्म नहीं करते हुए भी भीतर में कर्म किए जाते हैं—यह स्थिति तो आज सामान्य है, किसी के अन्तर की खिड़की खोलकर देख लीजिए, अच्छा तो यह हो कि अपने ही भीतर की खिड़की उघाड़ कर देख लिया जाए कि अकर्म में कर्म का चक्र कितनी तेजी और कितनी भीषणता के साथ चल रहा है। किन्तु, यह स्थिति जीवन के लिए हितकर एवं सुखकर नहीं है, इसलिए वांछनीय भी नहीं है।

हमारा दर्शन हमें 'अकर्म में कर्म' से उठाकर 'कर्म में अकर्म' की ओर मोड़ता है। ज्यादा अन्तर नहीं है, शब्दों का थोड़ा-सा हेर-फेर है। अंग्रेजी में एक शब्द है डोग 'DOG' और इसी को उलटकर एक दूसरा शब्द है गोड 'GOD'। डोग कुत्ता है और गोड ईश्वर है! 'अकर्म में कर्म'—यह जीवन में डोग का रूप है, उसे उलट दिया तो 'कर्म में अकर्म'—यह गोड का रूप हो गया। मतलब इसका यह हुआ कि बाहर में अकर्म, निष्क्रियता और भीतर में कर्म—राग-द्वेष के विकल्प—यह जीवन की हीन वृत्ति है, क्षुद्र वृत्ति है। और, बाहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कर्म-क्रियाशीलता और भीतर में अकर्म—राग-द्वेष की भावना से अलिप्तता, यह जीवन की उच्च वृत्ति है, श्रेष्ठ अवस्था है।

'कर्म में अकर्म' हमारे उच्च एवं पवित्र जीवन की परिभाषा है। अब यह प्रश्न है, यह अवस्था कैसे प्राप्त की जाए ? कर्म में अकर्म रहना कैसे सीखें, इसकी साधना क्या है ?

कर्तृत्व बुद्धि का त्याग :

दर्शन और मनोविज्ञान, इस बात पर एक मत हैं कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर 'कर्तृत्व-बुद्धि' की स्फुरणा होती है। साधारण मनुष्य कुछ करता है, तो साथ ही सोचता भी है कि "यह मैंने किया, इसका करने वाला मैं हूँ।" कार्य के साथ कर्तापन की भावना स्फुरित होती है। और प्रत्येक कार्य के बीच में वह अपने 'मैं' 'अहं' को खड़ा कर देता है। वह सोचता है—मैं नहीं होता, तो यह काम नहीं होता। मैंने ही यह किया है, मेरे बिना परिवार की, समाज की गाड़ी नहीं चल सकती। इस प्रकार 'मैं' के, कर्ताबुद्धि के हजार-हजार विकल्प एक तूफान की तरह उसके चिन्तन में उठते हैं और परिवार तथा समाज में अशान्ति व विग्रह की सृष्टि कर डालते हैं। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और राष्ट्रिय जीवन—सभी आज इसी तूफान के कारण अशान्त है, समस्याओं से घिरे हैं। परिवार में जितने व्यक्ति हैं, सभी के भीतर 'मैं' का विषधर-नाग फुँकार मार रहा है, राष्ट्र में जितने नागरिक हैं, प्रायः प्रत्येक अपने कर्तृत्व के 'अहं' से बौराया हुआ-सा है। इस प्रकार एक-दूसरे का 'अहं' टकराता है, वैर-विद्वेष की अग्नि स्फुलिंग उछलते हैं, अशान्ति फैलती है और जीवन संकटग्रस्त बन जाता है।

अतः स्पष्ट है कि यह कर्तापन की बुद्धि ही मनुष्य को शान्त नहीं रहने देती। शान्ति की खोज आप करते हैं, आपको शान्ति चाहिए, तो फिर आवश्यक है कि इस कर्तृत्व-बुद्धि से छुटकारा लिया जाए, तभी अशान्ति से पिण्ड छूट सकेगा, अन्यथा नहीं।

कलकत्ता चातुर्मास के लिए जाते समय मैं बिहार की सुप्रसिद्ध 'गया' नगरी में भी गया था। वहाँ एक फल्गु नदी है। प्राचीन वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में उसका काफी वर्णन है। बुद्ध ने तो कहा है—**'सुद्धस्स वे सदा फग्गु'**[1] शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु है। अब तो वह प्रायः सूख गई है। फिर भी उसे पवित्र मान कर श्राद्ध करने के लिए वहाँ आए दिन काफी लोग आते रहते हैं। मैंने श्राद्ध के निमित्त आए एक सज्जन से पूछा—"घर पर भी आप लोग श्राद्ध कर सकते हैं, फिर 'गया' आकर फल्गु नदी के जल से ही श्राद्ध करने का क्या मतलब है ?"

उस सज्जन ने बताया—"गयाजी में श्राद्ध कर लेने से एक ही साथ सब पितरों का श्राद्ध हो जाता है, सबसे सदा के लिए पिण्ड छूट जाता है।"

मैंने सोचा—"जिस आचार्य ने यह बात कही है, उसने काफी गहराई से सोचा होगा। आदमी कहाँ तक बड़े-बूढ़ों को सिर पर ढोए चलेगा, कहाँ तक मृत पूर्वजों को मन-मस्तिष्क में उठाए फिरेगा, आखिर उनसे पिण्ड छुड़ाना ही होगा, सबको 'वोसिरे-वोसिरे' (परित्याग) करना ही होगा"।

जीवन में कर्तृत्व के जो अहंकार हैं—मैंने यह किया, वह किया—के जो संकल्प हैं, आप इनको कबतक सिर पर ढोए चलेंगे ? इन अहं के पितरों से पिण्ड छुड़ाए बिना शान्ति नहीं मिलेगी। जीवन में कब तक, कितने दिन तक ये विकल्प ढोते रहेंगे, कबतक इन मुर्दों को सिर पर उठाए रखेंगे। जो बीत गया, जो कर डाला गया, वह अतीत हो गया, गुजर गया। गुजरा हुआ, याद रखने के लिए नहीं, भुलाने के लिए होता है। पर, जीवन की स्थिति यह है कि यह गुजरा हुआ कर्तृत्व भूत बनकर सिर पर चढ़ जाता है और रात-दिन अपनी 'मैं' 'मैं' आवाज लगाता रहता है। न स्वयं व्यक्ति को चैन लेने देता है, न परिवार और समाज को ही !

---

1. मज्झिमनिकाय, १।७।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य और सीमा का विस्तार :

कर्तृत्व बुद्धि के अहंकार को विसारने और भुलाने का आखिर क्या तरीका है ?— आप यह पूछ सकते हैं ! मैंने इसका समाधान खोजा है। आपको बताऊँ कि अहंकार कब जागृत होता है ? जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य-सीमा को अतिरंजित रूपमें आँकने लगता है। जो है, उससे कहीं अधिक स्वयं को देखता है, वास्तविकता से अधिक लम्बा बना कर अपने को नापता है, औरों से अपना बड़ापन अधिक महसूस करता है और यही अहं भावना अहंकार के रूप में प्रस्फुटित होती है।

यदि मनुष्य अपने सामर्थ्य को सही रूप में आँकने का प्रयत्न करे, वह स्वयं क्या है और कितना उसका अपना सामर्थ्य है, यह सही रूप में जाने, तो शायद कभी अहंकार करने जैसी बुद्धि न जगे। मनुष्य का जीवन कितना क्षुद्र है, और वह उसमें क्या कर सकता है, एक साँस तो इधर-उधर कर नहीं सकता, फिर वह किस बात का अहंकार करे ?

साधारण मनुष्य तो क्या चीज है ? भगवान् महावीर जैसे अनन्त शक्ति के धर्ता भी तो अपने आयुष्य को एक क्षण भर आगे बढ़ा नहीं सके। देवराज इन्द्र ने जब उन्हें आयुष्य को थोड़ा-सा बढ़ाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने क्या कहा, मालूम है ? **'न भूयं न भविस्सइ'** देवराज ! ऐसा न कभी हुआ और न कभी होगा, संसार की कोई भी महाशक्ति, अधिक तो क्या, अपनी एक साँस भी इधर-उधर नहीं कर सकती।

मैं सोचता हूँ, महावीर का यह उत्तर मनुष्य के कर्तृत्व के अहंकार पर सबसे बड़ी चोट है। जो क्षुद्र मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ऐसा कर लूँगा, वैसा कर लूँगा, वह अपने सामर्थ्य की सीमा से अनजान है। जीवन के हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख जितने भी द्वन्द्व हैं, वे उसके अधिकार में नहीं हैं, उसके सामर्थ्य से परे हैं, तो फिर उसमें परिवर्तन करने की बात, क्या मूर्खता नहीं है ? मैं प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की अवहेलना नहीं करना चाहता, किन्तु पिछले प्रयत्न से जो भविष्य निश्चित हो गया है, वह तो भाग्य बन गया। आप अब जैसा प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करेंगे, वैसा ही भाग्य अर्थात् भविष्य बनेगा। भाग्य का निर्माण आपके हाथ में है, किन्तु भाग्य की प्रतिफलित निश्चित रेखा को बदलना आपके हाथ में नहीं है, यह बात भले ही विचित्र लगे, पर ध्रुव सत्य है।

इसका सीधा-सा अर्थ है कि हम कर्म करने के तो अधिकारी हैं, किन्तु कर्मफल में हस्तक्षेप करने का अधिकार हमें नहीं है। फिर कर्म की वासना से लिप्त क्यों होते हैं, कर्तापन के अहंकार से व्यर्थ ही अपने को धोखा क्यों देते हैं—यह बात समझने जैसी है।

भारतीय चिन्तन कहता है—मनुष्य ! तू अपने अधिकार का अतिक्रमण न कर ! अपनी सीमाओं को लाँघकर दूसरे की सीमा में मत घुस ! जब अपने सामर्थ्य से बाहर जाकर सोचेगा, तो अहंकार जगेगा, 'मैं' का भूत सिर पर चढ़ जाएगा और तेरे जीवन की सुख-शान्ति बिलीन हो जाएगी।

शान्ति का मार्ग :

हमारे यहाँ एक कहानी आती है कि एक मुनि के पास कोई भक्त आया और बोला— महाराज ! मन को शान्ति प्राप्त हो सके, ऐसा कुछ उपदेश दीजिए !

मुनि ने भक्त को नगर के एक सेठ के पास भेज दिया। सेठ के पास आ कर उसने कहा—मुनि ने मुझे भेजा है, शान्ति का रास्ता बतलाइए !

सेठ ने समागत अतिथि को ऊपर से नीचे तक एक दृष्टि से देखा और कहा—'यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो, और देखते रहो।'

भक्त कुछ दिन वहाँ रहा, देखता रहा। सेठ ने उससे कुछ भी पूछा नहीं, कहा नहीं। रात-दिन अपने काम-धन्धे में जुटा रहता। सैकड़ों आदमी आते-जाते, मुनीम गुमास्ते बही-खातों का ढेर लगाए सेठ के सामने बैठे रहते। भक्त सोचने लगा—"यह सेठ, जो रात-दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया के चक्कर में फँसा है, इसे तो खुद ही शान्ति नहीं है, मुझे क्या शान्ति का मार्ग बताएगा। मुनि ने कहाँ भेज दिया ?"

एक दिन सेठ बैठा था, पास ही भक्त भी बैठा था। मुनीम घबराया हुआ आया और बोला—"सेठजी ! गजब हो गया। अमुक जहाज, जिसमें दस लाख का माल लदा आ रहा था, बन्दरगाह पर नहीं पहुँचा। पता लगा है, समुद्री तूफानों में घिर कर कहीं डूब गया है।"

सेठ ने गंभीरतापूर्वक कहा—"मुनीम जी, शान्त रहो ! परेशान क्यों होते हो ? डूब गया तो क्या हुआ ? कुछ अनहोनी तो हुई नहीं ? प्रयत्न करने पर भी नहीं बचा, तो नहीं बचा, जैसा होना था हुआ, अब घबराना क्या है ?"

इस बात को कुछ ही दिन बीते थे कि मुनीमजी दौड़े-दौड़े आये, खुशी में नाच रहे थे—"सेठ जी, सेठ जी ! खुशखबरी ! वह जहाज किनारे पर सुरक्षित पहुँच गया है, माल उतारने से पहले ही दुगुना भाव हो गया और बीस लाख में बिक गया है !"

सेठ फिर भी शान्त था, गंभीर था। सेठ ने उसी पहले जैसे शान्त मन से कहा—"ऐसी क्या बात हो गई ? अनहोनी तो कुछ नहीं हुई ! फिर व्यर्थ ही फूलना, इतराना किस बात का ? यह हानि और लाभ, तो अपनी नियति से होते रहते हैं, हम क्यों इनके पीछे रोएँ और हँसें ?"

भक्त ने यह सब देखा, तो उसका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो उठा। क्या गजब का आदमी है। दस लाख का घाटा हुआ, तब भी शान्त ! और, बीस लाख का मुनाफा हुआ, तब भी शान्त ! दैन्य और अहंकार तो इसे छू भी नहीं गये, कहीं रोमांच भी नहीं हुआ इसको ! यह गृहस्थ है या परम योगी ! उसने सेठ के चरण छू लिए और कहा—"जिस शान्ति की खोज में मुझे यहाँ भेजा गया था, वह साक्षात् मिल गई। जीवन में शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, इसका गुरुमन्त्र मिल गया मुझे !"

सेठ ने कहा—"जिस गुरु ने तुम्हें यहाँ भेजा, उसी गुरु का उपदेश मेरे पास है। मैंने कभी भी अपने कर्तृत्व का अहंकार नहीं किया, इसलिए मुझे कभी कोई द्वन्द्व नहीं होता। हानि-लाभ के चक्र में अपने को मैं निमित्त मात्र मानकर चलता हूँ, विश्व गतिचक्र की इस मशीन का एक पुर्जा मात्र ! इसलिए मुझे न शोक होता है, और न हर्ष ! न दैन्य और न अहंकार।"

भाग्य सम्मिलित और प्रच्छन्न :

इस दृष्टान्त से यह ज्ञात होता है कि कर्तृत्व के अहंकार को किस प्रकार शान्त किया जा सकता है। सेठ की तरह कोई यदि अपने को अहंकार-बुद्धि से मुक्त रख सके, तो मैं गारण्टी देता हूँ कि जीवन में उसको कभी भी दुःख एवं चिन्ता नहीं होगी।

मनुष्य परिवार एवं समाज के बीच बैठा है। बहुत से उत्तरदायित्व उसके कंधों पर हैं और उसी के हाथों से वे पूरे भी होते हैं। परिवार में दस-बीस व्यक्ति हैं और उनका भरण-पोषण सिर्फ उसी एक व्यक्ति के द्वारा होता है, तो क्या वह यह समझ बैठे कि वही इस रंगमंच का एकमात्र सूत्रधार है। उसके बिना यह नाटक नहीं खेला जा सकता। यदि वह किसी को कुछ न दे तो, बस सारा परिवार भूखा मर जाएगा, बच्चे भिखारी बन जाएँगे, बड़े-बूढ़े दाने-दाने को मुँहताज हो जाएँगे। मैं सोचता हूँ, इससे बढ़ कर अज्ञानता और क्या हो सकती है ?

बालक जब गर्भ में आता है, तो उसका भी भाग्य साथ में आता है, घर में प्रच्छन्न रूप से उसका भाग्य अवश्य काम करता है। कल्पसूत्र में आपने पढ़ा होगा कि जब भगवान् महावीर माता के गर्भ में आए, तब से उस परिवार की अभिवृद्धि होने लगी। उनके नामकरण के अवसर पर पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय, अपने मित्र-परिजनों के समक्ष पुत्र के नामकरण का प्रसंग लाते हैं, तो कहते हैं, जब से यह पुत्र अपनी माता के गर्भ में आया है, तब से हमारे कुल में धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, प्रीति-सत्कार आदि प्रत्येक दृष्टि से निरन्तर अभिवृद्धि होती रही है, हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ते रहे हैं, इसलिए इस कुमार का हम गुणनिष्पन्न वर्द्धमान' नाम रखते हैं—"**तं होउ णं कुमारे वद्धमाणे नामेणं।**"

किसी का भाग्य प्रच्छन्न काम करता है, किसी का प्रकट। संयुक्त परिवार में यह नहीं कहा जा सकता कि सिर्फ एक ही व्यक्ति उसका आधार है। वहाँ, केवल एक का नहीं, अपितु सबका सम्मिलित भाग्य काम करता है।

परिवार में बड़े-बूढ़ों के बारे में भी कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि यह तो बेकार की फौज है। कमाते नहीं, सिर्फ खाते हैं। मैं इनका भरण-पोषण कब तक करूँ? यदि दो-चार बूढ़े आदमी परिवार में १०-१५ साल रह गए, तो २०-२५ हजार के नीचे ले ही आएँगे।

यह सोचना, निरी व्यक्तिपरक एवं स्वार्थवादी बुद्धि है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसके आँकड़े सही हो सकते हैं, लेकिन क्या जीवन में कोई कोरा अर्थ-शास्त्री और गणित-शास्त्री बन कर जी सकता है? जीवन इस प्रकार के गणित के आधार पर नहीं चलता, बल्कि वह नीति और धर्म के आधार पर चलता है। नीति एवं धर्मशास्त्र यह बात स्पष्टतः कहते हैं—कि कोई कर्म करता है, और कोई नहीं करता, यह सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि है। वस्तुतः प्रच्छन्न रूप से सबका भाग्य कार्य कर रहा होता है, और उसी के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को मिलता भी रहता है।

वस्तुत हमारा जीवन-दर्शन आज धुँधला हो गया है। आज का मनुष्य भटक रहा है, जीवन के महासागर में तैरता हुआ इधर-उधर हाथ-पाँव मार रहा है, पर उसे कहीं भी किनारा नहीं दिखाई दे रहा है। इसका कारण यही है कि वह इस दृष्टि से नहीं सोच पाता कि कर्म करते रहना है, फिर भी करने के अहं से दूर रहना है—यही जीवन की सच्ची कला है। इसी कला से जीवन में सुख एवं शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org